IJARSCT
ISSN (Online) 2581-9429
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology (IJARSCT)
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
Impact Factor: 4.819
Volume 7, Issue 1, July 2020

गीता मे यज्ञ की अवधारणा अपरिग्रह का नैतिक आदर्श तथा समान आर्थिक वितरण की संकल्पना - एक दार्शनिक विश्लेषण ।

डॉ इंदु प्रकाश सिंह

सहायक प्रोफेसर दर्शनशास्त्र

हेमवती नंदन बहुगुणा राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय नैनी प्रयागराज ।

dripsingh22@gmail.com

सारांश--- भगवत गीता में यज्ञ का अर्थ अति विशिष्ट अर्थ में है। यज्ञ शब्द मात्र अग्नि में किसी वस्तु का आहुति हवन करना मात्र नहीं है अपितु सृष्टि के सभी कार्य सकुसल चलते रहें इस हेतु चातुर वर्ण विहित जो कार्य स्वाभाविक गुण के अनुसार विभाजित हैं वह सभी सम्यक रूप से स्वधर्म का प्रतिपादन करते रहें तथा सभी का हेतु लोक संग्रह हो ऐसी कार्य योजना को यज्ञ कहा गया है । गीता में जब श्री कृष्ण कहते हैं कि यज्ञ के लिए जो कर्म किए जाते हैं उसके अन्यत्र अन्य कर्मों से यह लोग बंधन ग्रस्त है । अतः तुम आसक्ति छोड़कर यज्ञार्थ कम करता जा । ऋग्वेद उपनिषद मनुस्मृति महाभारत आदि प्राचीन ग्रंथो में त्याग पूर्वक उपभोग धन संपत्ति के समान वितरण दान अपरिग्रह लोक कल्याण आदि के हेतु यज्ञार्थ कर्म को आदर्श आर्थिक समानता हेतु अपरिहार्य माना गया है।

मुख्य शब्द- ऋग्वेद उपनिषद मनुस्मृति महाभारत यज्ञ तप अपरिग्रह लोक संग्रह दान तदर्थ कर्म यज्ञार्थकर्म यज्ञ दरिद्र नारायण अंतिम व्यक्ति पाप भक्षण अवशिष्ट।

IJARSCT
ISSN (Online) 2581-9429
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology (IJARSCT)
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
Impact Factor: 4.819
Volume 7, Issue 1, July 2020

साहित्यावलोकन- वेद उपनिषद महाभारत भगवतगीता मनुस्मृति बाल गंगाधर तिलक द्वारा लिखित गीता रहस्य । डॉ. यस राधा कृष्णन , ,गांधी,विनोवा,अरविंद का गीता पर पुस्तक।

प्रस्तावना गीता में प्रतिपादित यज्ञ का संप्रत्यय तथा उसके व्यापक अर्थ बोध का जब हम यौक्तिक मीमांसा करते हैं तो विदित होता है कि यज्ञ मात्र हवन करना ना होकर गीता के चातुर्वर्ण व्यवस्था सृष्टि क्रम स्वधर्म लोकसंग्रह आदि आदर्श को मूर्त रूप देने का एक व्यवहारिक कार्य पद्धति है। उपनिषद वैदिक साहित्य महाभारत स्मृतियां आदि में समाज के मध्य समान आर्थिक वितरण त्यागपूर्वक उपभोग अपरिग्रह तथा गांधी के ट्रस्टी शिप आदि की आत्मा इसी यज्ञ चक्र द्वारा ही अपने स्वरूप को उद्घाटित एवं प्रतिपादित करने में शक्य है।

सम्पूर्ण विश्व एक बाजार के रूप में परिवर्तित होता जा रहा है, तथा नैतिकता एवं मूल्यों का बाजारीकरण होता जा रहा है, उस परिदृश्य में लोकसंग्रह का आदर्श ही विश्व जनमानस को एक नई दिशा देने में शक्य है। इस आदर्श की प्राप्ति हेतु गीता में यज्ञ, दान, तप, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, आत्मौपम्य दृष्टि तथा ईशावास्योपनिषद् के त्यागपूर्वक उपभोग की विधि को आचरण की विधि के रूप में व्यवहार में उतारना होगा। 'लोकसंग्रह' के लिए सम्पूर्ण समाज में 'अर्थ' (धन) का आवश्यकता से अधिक धन संचय करना समाज व्यवस्था के विघटन का कारण तथा अपरिग्रह के आदर्श के विपरीत होगा। आवश्यकता से अधिक संचय न हो इसी हेतु से ही त्यागपूर्वक उपभोग की शिक्षा ईशावास्योपनिषद् में दी गयी है।

b'kk okL;fen lo ;fRd p txR;k txrA
ru R;Dru Hk tFkk ek x/k dL; fLon /kue AA [1]

अर्थात् अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़ चेतनरूप जगत है यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है, उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो, आसक्त मत होओ, धन भोग्य पदार्थ किसका है, अर्थात किसी का भी नहीं।

त्यागपूर्वक उपभोग से 'त्याग' का जन्म होगा, तथा उससे 'दान' का भाव पैदा होगा, 'दान' से 'यज्ञ' उत्पन्न होगा, 'यज्ञ' से सम्पूर्ण प्राणियों की समान आर्थिक एवं आध्यात्मिक उन्नति होगी। वस्तुतः 'यज्ञ' का लौकिक पक्ष आर्थिक संतुलन के लिए ही था। यज्ञों का उद्देश्य सम्पत्ति का समाज में वितरण करना था। इसरूप में 'यज्ञ' धार्मिक कृत्य के साथ–साथ प्रमुख रूप से सामाजिक कृत्य भी थे।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'यज्ञ' के लिए जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मों से यह लोक बंधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ कर्म तू आसक्ति छोड़कर करता जा–

;KkFkkRde.kk U;= ykdk ;
rnFk de dkUr; eDr l³x lekpjAA [2]

'यज्ञ' शब्द का अर्थ मात्र ज्योतिष्टोम आदि श्रौत यज्ञ या अग्नि मे किसी भी वस्तु का हवन करना ही नहीं है। सृष्टि का निर्माण करके, उसका कार्य ठीक ढंग से चलते रहेने के लिए अर्थात् लोकसंग्रहार्थ ब्रह्मा ने प्रजा को चातुर्वर्ण्याविहित जो जो कार्य बांट दिये हैं, न सब का 'यज्ञ' शब्द में समावेश होता है।[3] अतः धर्मशास्त्रों में इन्हीं कर्मों का उल्लेख है। इसलिए कहना

IJARSCT
ISSN (Online) 2581-9429
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology (IJARSCT)
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
Impact Factor: 4.819
Volume 7, Issue 1, July 2020

असंगत नहीं होगा कि यद्यपि आजकल श्रौत यज्ञ–याग लुप्त प्राय हो गये हैं; तथापि यज्ञचक्र का विवेचन आज के संदर्भ में भी समसामायिक है। शास्त्रों के अनुसार ये सभी कर्म काम्य है; अर्थात् इसलिए बतलाये गये हैं कि मनुष्य का इस जगत् में कल्याण हो और उसे सुख मिले। पुनश्च, यज्ञों के अतिरिक्त दूसरे कर्मों को उदाहरणार्थ मात्र अपने पेट भरने के लिए मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह यज्ञार्थ नहीं है तथा वह बन्धनकारी है।

गीता में कहा गया है कि 'यज्ञ' से संतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित सब भोग देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें न देकर जो केवल स्वयं उपभोग करता है वह चोर है–

b"VkUHkkxkfUg ok nkok nkL;Urs ;KHkkforkA
rsnÙkkuiznk;H;ks ;ks Hkq³xrs Lrs u ,o l%A [4]

अर्थात् जो मात्र अपने लिए धन अधि भेग्य साधनों का संग्रह करता है, तथा समाज के अन्य लोगों को उसका हिस्सा नहीं देता है; अर्थात् 'यज्ञार्थ' अर्पण नहीं करता है वह चोर है।

जैसे चोर समाज के संपत्ति का अपहरण नितांत वैयक्तिक सुख के लिए करता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति भी है, जो ईश्वर द्वारा प्रदत्त धन, ऐश्वर्य आदि भोगों का उपयोग मात्र अपने लिए करता है। गीता के 'यज्ञ' शब्द से तात्पर्य चातुर्वण्य के सब कर्मों से है। समाज के उचित धारण–पोषण हेतु इन यज्ञ चक्रों का जारी रहना आवश्यक है। अस्तु, देवलोक और मनुष्यने जिस लोकसंग्रहकारक कर्म का निर्माण किया उसे आगे अच्छी तरह से प्रचलित रखना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। इसी दृष्टि से गीता में निम्नांकित श्लोक प्रस्तावित है–

;Kf'k"Vkf'ku% lUrks eqP;Urs lo±fdfYo"ke%A
Hkq´tr s rs Ro/ks ikik ;s ipUR;kRedkj.kkrsAA [5]

अर्थात् यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले सब पापों से मुक्त हो जाता है। परन्तु यज्ञ न करके मात्र अपने लिए जो अन्न पकाते हैं वे पापी लोग पापभक्षण करते हैं।

आर्थिक समृद्धि या धन के सामाजिक वितरण या सामूहिक समान उपभोग के आदर्श का इससे अधिक सुसंगत दृष्टान्त क्या हो सकता है। यदि 'धनी' व्यक्ति किसी भी सुख सुविधा का उपभोग रके तो पहले वह अपने आस–पास वंचितों या अभावग्रस्त लोगों को उसका वितरण कर दे तथा अवशेष भाग का उपभोग वह करे, तो ऐसे सामाजिक व्यवस्था में कोई भूखा या नंगा कैसे रह सकता है? गांधी जी ने तो अपने मंत्र में कहा है कि वह 'अंतिम व्यक्ति' तो गीता भी अंतिम व्यक्ति तक को वितरण करके ही उपभोग की अनुमति प्रदान करती है। यही यथार्थ कर्म है। जो भगवान को अर्पण की बात गीता में है वह अलौकिक भगवान तक ही सीमित नहीं है अपितु व्यावहारिक जगत के भगवान 'दरिद्रनारायण' से भी अभिप्रेत है।

ऋग्वेद के मंत्र में भी कहा गया है कि जो मनुष्य अर्यमा या सत्ता का पोषण नहीं करता, अकेले ही भोजन करता है, उसे केवल पापी समझना चाहिए–

uk;e.ks i"k;fr uks l[kk;ks dsoyks/kks Hkofr dsoyknhA [6]

मनुस्मृति में कहा गया है कि, जो मनुष्य अपने लिए ही अन्न पकाता है वह केवल पापभक्षण करता है। यज्ञ करने पर जो शेष रह जाता है उसे 'अमृत' और दूसरे के भोजन कर चुकने पर जो शेष रहता है उसे 'विधस' कहते हैं; और भले मनुष्य के लिये यही अन्न विहित कहा गया है–

अघे l dsoy HkqDrs ;% ipR;kRedkj.kkrsA
;Kf'k"Vk'ku ásrRl`rsUeq fo/kh;rsAA [7]

IJARSCT
ISSN (Online) 2581-9429
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology (IJARSCT)
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
Impact Factor: 4.819
Volume 7, Issue 1, July 2020

इस प्रकार लोक व्यवस्था के लिए या लोक में सुस्थिति बनी रहे, वर्णाश्रम, स्वधर्म आदि व्यवस्था सुचारू रूप से चले इस हेतु से तथा लोक को पथभ्रष्टता से बचाने के लिए 'यज्ञ' अति आवश्यक है। इसलिए स्पष्ट है कि 'यज्ञ' आदि कर्म न तो केवल तिल चावल आदि आग में झोंकने के लिए है, या न स्वर्ग प्राप्ति के लिए भी वरन् जगत का धारण पोषण होने के लिए उनकी नितांत आवश्यकता है अर्थात् 'यज्ञ' पर ही सारा जगत अविलंबित है। [8]

इसी दृष्टि से गीता में कहा गया है कि–

vUuköofUr Hkrkfu itU;kn~;kLEHko%A
;Kköofr itU;k ;K% delegöo%AA [9]
del cãkköo fof) cãk{kjleöoA
rLekRlokxr cã fuR;a ;K ifrf"Bre AA [10]

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होता है, यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होता है। कर्म समुदाय को तुम वेदों से उत्पन्न और वेदों को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न जानो। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं।

स्पष्ट है कि गीता में व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी त्याग पूर्वक तथा अपरिग्रह के आदर्श के अनुरूप भोगने का निर्देश है; जिससे सम्पत्ति का कुछ लोगों के साथ केन्द्रीकरण न हो जाय। प्रश्न उठता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अर्जन कहां तक अभीष्ट है? मनु ने सात प्रकार से अर्जित धन को व्यक्ति के निजी सम्पत्ति में माना है। ये सात हैं–दाय, लाभ, क्रय, जय, प्रयोग, कर्मयोग, सत्प्रतिग्रह–

lIrfoÙkkxeks /kE;ks nk;ks ykHkks Ø;ks t;%A
i;kxks de;kx'p lRifrxg ,o pAA [11]

मनु के अनुसार इन सात प्रकार से प्रापत धन पर व्यक्ति का वैधानिक एवं धार्मिक अधिकार होता हैं इस प्रकार के धन पर हाथ उठाना अनुचित है। पुनश्च, भारतीय परंपरा में धन का प्रयोग त्यागपूर्वक ही उचित माना गया है तथा 'दान' एवं 'अपरिग्रह' द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी सामाजिक वितरण के लिए अनिवार्य माना गया है।

आर्थिक असन्तुलन को दूर करने के लिए तथा समाज को सुखी एवं व्यवस्थित रखने के लिए जो विधि है वह 'यज्ञ' एवं 'दान' की है। हमारे शास्त्रों में अनेक ऐसे यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है जब यजमान राजा सर्वस्व दान कर देता है तथा मात्र मिट्टी के बर्तन से अपना निर्वाह करता है। ये दान की गयी वस्तुएं और सम्पत्ति समाज के सभी वर्गों मे वितरित होती थी। सेवा के प्रतिदान के रूप में सेवकों को, वस्तु विनिमय के रूप में व्यापारियों को, रक्षाकार्य के लिए क्षत्रियों को और यज्ञ में सहयोग के लिए ब्राह्मणों को दिया गया धन सम्पूर्ण समाज में वितरित हो जाता था।

पुनः जिन के पार धन अधिक है, उन्हे 'दान' देकर समाज के वंचितों को धन उपलब्ध कराने हेतु शास्त्र में कठोर आदेश आख्यात हैं–

जैसे महाभारत के उद्योग पर्व में कहा गया है कि, धनी होकर दान न देने वाले को तथा गरीब होकर तपस्या न करने वाले को पत्थर बांधकर जल में डुबा देना चाहिए–

}koEHkfl fuo"V;k xya c)ok n<k f'kykeA
/kuoUrenkrkja nfjnz pkrifLoueAA [12]

IJARSCT
ISSN (Online) 2581-9429
International Journal of Advanced Research in Science, Communication and Technology (IJARSCT)
International Open-Access, Double-Blind, Peer-Reviewed, Refereed, Multidisciplinary Online Journal
Impact Factor: 4.819
Volume 7, Issue 1, July 2020

निष्कर्ष-

जिसके पास धन है वे उसे अपना 'धन' न मानकर ईश्वर द्वारा प्रदत्त स्वयं को संरक्षक मानकर, त्यागपूर्वक उसका उपभोग djdj] ;KkFk vof'k"V dk gh miHkksx djs] यज्ञ ^nku* ,oa vifjxg dk viuk vkpj.k का अनिवार्य पक्ष बना लें तो लोकसंग्रह स्वतः सम्पन्न होगा, नहीं होगा अति उत्पादन, अतिक्ति मूल्य की समस्या, शोषण, उपनिवेशवाद और लोक कल्याण हेतु अर्थशास्त्र का इससे सुन्दर दिशा निर्देशक पथ कोई दूसरा नहीं होगा।

संदर्भ.

[1]. b'kkokL;kifu"kn] xhrk izsl] xkj[kiqj] e= l0 1
[2]. भगवद्गीता, अध्याय–3, श्लोक 9
[3]. गीतारहस्य, उपरिउद्धृत ग्रंथ पृष्ठ सं0 432
[4]. भगवद्गीता, अध्याय–3, श्लोक 12
[5]. भगवद्गीता, अध्याय–3, श्लोक 13
[6]. ऋग्वेद 10.117.6
[7]. मनुस्मृति, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1973, अध्याय–3, श्लोक 118 (3.118)
[8]. गीतारहस्य, उपरिउद्धृत ग्रंथ पृष्ठ सं0 434
[9]. भगवद्गीता, अध्याय–3, श्लोक 14
[10]. भगवद्गीता, अध्याय–3, श्लोक 15
[11]. मनुस्मृति, अध्याय–10, श्लोक 115
[12]. महाभारत, उद्योग पर्व 33/60